SHODH SAMAGAM

ISSN : 2581-6918 (Online), 2582-1792 (PRINT)

मौर्य एवं शुंगकालीन कलाः यक्ष और यक्षिणी की प्रतिमाओं के विशेष संदर्भ में एक ऐतिहासिक अध्ययन

अशोक कोडा, शोधार्थी, स्नातकोत्तर इतिहास विभाग,
विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग, झारखंड, भारत

ORIGINAL ARTICLE

Author

अशोक कोडा, शोधार्थी

E-mail : ashokkora1985@gmail.com

shodhsamagam1@gmail.com

Received on : 01/05/2026
Revised on : 02/07/2026
Accepted on : 11/07/2026
Overall Similarity : 00% on 03/07/2026

Plagiarism Checker X - Report
Originality Assessment

0%

Overall Similarity

Date: Jul 3, 2026 (04:21 PM)
Matches: 0 / 2792 words
Sources: 0

Remarks: No similarity found, your document looks healthy.

Verify Report: Scan this QR Code

शोध सार

मौर्य एवं शुंग काल भारतीय मूर्तिकला के विकास का एक महत्वपूर्ण चरण है, जिसमें यक्ष और यक्षिणी प्रतिमाओं का विशिष्ट स्थान है। ये प्रतिमाएँ प्राचीन भारत की लोकधार्मिक मान्यताओं, सामाजिक जीवन तथा कलात्मक परंपराओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। यक्ष एवं यक्षिणियाँ मूलतः प्रकृति, उर्वरता, समृद्धि तथा क्षेत्रीय देवताओं से संबंधित लोक–आस्थाओं के प्रतीक थे, जिन्हें बाद में बौद्ध, जैन और ब्राह्मण धर्मों ने भी अपने धार्मिक ढाँचे में समाहित कर लिया। मौर्यकालीन प्रतिमाओं में विशालकाय आकार, सुदृढ़ शारीरिक गठन तथा प्रसिद्ध मौर्य पालिश का प्रयोग दिखाई देता है, जबकि शुंगकालीन प्रतिमाओं में अलंकरण, कथात्मकता तथा प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति का अधिक विकास हुआ। यह शोध–पत्र मौर्य एवं शुंगकालीन यक्ष–यक्षिणी प्रतिमाओं के ऐतिहासिक, धार्मिक तथा कलात्मक पक्षों का अध्ययन करता है। पर्खम यक्ष, दीदारगंज यक्षिणी, भरहुत तथा सांची की यक्षिणी प्रतिमाओं के विश्लेषण के माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि इन प्रतिमाओं ने भारतीय मूर्तिकला की स्वतंत्र परंपरा के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि यक्ष–यक्षिणी प्रतिमाएँ केवल धार्मिक प्रतीक नहीं थीं, बल्कि वे तत्कालीन समाज की सांस्कृतिक चेतना, आर्थिक समृद्धि तथा सौंदर्यबोध की भी अभिव्यक्ति थीं।

मुख्य शब्द

यक्ष, यक्षिणी, मौर्यकाल, शुंगकाल, भारतीय मूर्तिकला, लोकधर्म.

मथुरा के पास परखम, ग्वालियर में बेसनगर और पावाया, बिहार में लोहानीपुर, दीदारगंज और पटना जैसे दूरस्थ क्षेत्रों से कई विशाल और स्वतंत्र मूर्तियां मिली हैं, जो पूरी तरह से गोलाकार रूप में तराशी गई हैं। इन्हें आमतौर पर यक्ष और यक्षिणी के रूप में वर्णित किया जाता है और सटीक पहचान के अभाव में यह वर्णन मान्य हो सकता है। ये मूर्तियां चुनार बलुआ पत्थर से तराशी गई हैं और इन पर अशोक के

शिलालेख स्तंभों और उनके उत्कीर्ण शीर्षों की विशेषता वाली पॉलिश के अवशेष मौजूद हैं। सामग्री और इस पॉलिश के निशानों के कारण, जिसे आमतौर पर मौर्यकालीन पॉलिश कहा जाता है, इन मूर्तियों को अस्थायी रूप से मौर्य काल से संबंधित माना जाता है। हालाँकि, यह वर्गीकरण मूर्तिकला के इन दो समूहों, अर्थात् तराशे गए शीर्षों और यक्ष एवं यक्षिणी मूर्तियों के बीच मौजूद अंतरों को नजरअंदाज करता है। इसके अलावा, दूसरे समूह की विभिन्न मूर्तियों में तकनीक, शैली और सौंदर्यबोध के संदर्भ में भी व्यापक भिन्नताएँ पाई जाती हैं। ये भिन्नताएँ इतनी स्पष्ट हैं कि इन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता और जब इन्हें साथ–साथ रखा जाता है, तो ये और भी स्पष्ट हो जाती हैं, विशेष रूप से परखम से प्राप्त यक्ष की मूर्ति और दीदारगंज से प्राप्त यक्षिणी की मूर्ति। यक्ष की मूर्ति अपने विशाल आकार और चपटेपन के कारण, जिसमें भागों का कोई समन्वय नहीं है, वहीं यक्ष की मूर्ति अपने चिकने, गोल और प्राकृतिक स्वरूप के कारण, जो एक पूर्ण रूप में खूबसूरती से एकीकृत है और परिपक्व शास्त्रीय परंपरा के प्रवाहमय प्रकृतिवाद से प्रेरित है। ये व्यवहारिक रूप से मूर्तिकला की दो चरम अवधारणाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं और समूह की अन्य मूर्तियाँ इन दोनों के बीच विभिन्न स्तरों के भावों को दर्शाती हैं। इन मूर्तियों की कालानुक्रमिक और शैलीगत स्थिति का निर्धारण करने के लिए, इन पहलुओं को ध्यान में रखते हुए इनका पूर्नविश्लेषण आवश्यक है। प्रारंभ में यह स्पष्ट किया जा सकता है कि सामग्री और पॉलिश, जो कि मौर्यकालीन गुणवत्ता की नहीं है, इन मूर्तियों को किसी एक विशेष काल में वर्गीकृत करने का पुख्ता आधार नहीं हो सकतीं, क्योंकि तकनीकी दक्षताओं के साथ–साथ कलात्मक और सौंदर्य संबंधी अवधारणाओं में भी इनमें काफी भिन्नता है।[1]

इस विश्लेषणात्मक अध्ययन में, बड़ौदा और पारखम की दो मूर्तियों को सर्वप्रथम स्थान दिया जाना चाहिए। बड़ौदा की मूर्ति का केवल ऊपरी भाग ही शेष है, जबकि पारखम की मूर्ति हाथों के गायब होने और सतह पर हल्के–फुल्के घिसाव को छोड़कर लगभग अच्छी स्थिति में संरक्षित है। यहाँ हमें विशालता और आयतन की स्पष्ट अभिव्यक्ति मिलती है, जो इस समूह की अन्य मूर्तियों के आवश्यक गुण भी हो सकते हैं। यह मूर्ति पूरी तरह से सामने से बनाई गई है और इसकी ढलाई में अपर्याप्त तकनीक का प्रयोग हुआ है।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि आकृतियाँ एक दूसरे के ऊपर बिना किसी सचेत जैविक संबंध के आरोपित हैं। किनारों और पीठ पर हल्की सी ढलान के अलावा व्यावहारिक रूप से कोई मॉडलिंग नहीं है। यहाँ हमें एक पुरातन दृढ़ता दिखाई देती है, जो रचना में सामंजस्य और समन्वय की कमी के कारण फिर से स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं होती है। वस्त्र शरीर से चिपके हुए पारदर्शी प्रतीत होते हैं और जहाँ वे मुक्त हैं, वहाँ उन्हें सपाट आयतन दिया गया है। दोनों पैरों के बीच की चोटी दिलचस्प है और भरहुत की मूर्तियों में इसी तरह की चोटियों की याद दिलाती है। हालांकि इन्हें भद्दे ढ़ंग से व्यक्त किया गया है, फिर भी इनकी मजबूती और विशालता, इन आकृतियों को प्राचीन स्वदेशी परंपरा से जोड़ती है और धीरे–धीरे यह आदिम गुण शास्त्रीय भारतीय कला के रूप में वर्णित रुझानों और फैशन का अनुभव करता है। पटना की दो मूर्तियों में, जो रूप और अवधारणा में लगभग एक जैसी हैं और बेसनगर की यक्षिणी आकृति में हमें वही प्राचीन भारीपन दिखाई देता है लेकिन इनका निर्माण और ढलाई आसान और अधिक स्वतंत्र प्रतीत होती है।[3] सामने से, प्रत्येक आकृति में भुजाओं, स्तनों और पेट सहित अधिक गोल विशेषताएं दिखाई देती हैं। किनारों पर रेखीय आकृति कम कठोर है और इसमें अधिक सहज गति है। वस्त्रों को अलग–अलग आयतन दिए गए हैं जहाँ वे शरीर से चिपके नहीं होते, बल्कि जहाँ चिपके होते हैं वहाँ केवल सिलवटों की समानांतर लकीरों द्वारा इंगित किए जाते हैं। आकृतियों के सामान्य भारीपन के बावजूद, अधिक गोल विशेषताएं और अधिक स्वतंत्र रेखीय आकृति का प्रयास इन आकृतियों को परखम की छवि से अलग करता है।[4]

पटना के पास लोहानीपुर से प्राप्त जैन कहे जाने वाले दो धड़, पटना यक्ष मूर्तियों के समान हैं, लेकिन भारीपन की जगह एक कठोर और चपटी आकृति ले लेती है जिसमें पूरी तरह से गोल चेहरे समान रूप से स्पष्ट होते हैं। पावाया से प्राप्त यक्ष मणिभद्र की मूर्ति, हालांकि आमतौर पर परखम प्रतिमा के साथ ही रखा जाता है, उसमें आगे और पीछे दोनों तरफ से बेहतर मॉडलिंग या बनावट दिखाई देती है। यह एक सुव्यवस्थित रचना है और ऐसा प्रतीत होता है कि कलाकार ने गोल आकृतियों और चपटी सतहों के बीच के उस विरोधाभास को दूर कर लिया है जो ऊपर चर्चा की गई अन्य आकृतियों में स्पष्ट रूप से मौजूद है। आयतनों का बेहतर समन्वय, जो स्वाभाविक रूप से एक दूसरे में विलीन हो जाते हैं, निश्चित रूप से एक परिपक्व अवधारणा को दर्शाता है जिसमें कोई मानो कोमल, गर्म मांस का अनुभव कर सकता है। इस आकृति में इसके भारीपन के अलावा कुछ भी आदिम या पुरातन नहीं है, लेकिन भारीपन प्रारंभिक भारतीय कला का एक अंतर्निहित गुण है और इसकी सबसे सशक्त विशेषता है।[5]

दीदारगंज से प्राप्त यक्षिणी की मूर्ति भी आदिमपन से पूरी तरह मुक्त है और पूरी श्रृंखला में सबसे उत्कृष्ट रचना के रूप में उभरती है। विशाल शरीर को पूर्णतः गोलाकार रूप में ढाला गया है, किनारे और पीछे का हिस्सा भी इससे अछुता नही हैं। सुडौल और गोल आकृतियाँ, जिनमें उभरे हुए स्तन, पतली कमर, चौड़े कूल्हे जो धीरे–धीरे सुडौल टांगों की ओर पतले होते

जाते हैं, संपूर्ण शरीर की सघनता और एक प्रवाहमय आकृति के भीतर समाहित हैं, जिसे सामने, पीछे और पार्श्वों के चित्रण में पहचाना जा सकता है। पूरे आकृति की बनावट इसे एक गतिशील रूप देती है, जिसे शरीर के ऊपरी भाग के सहज और हल्के झुकाव और आगे की ओर गति तथा दाहिने घुटने के जोड़ के सूक्ष्म मोड़ द्वारा और भी बल मिलता है। अब गोलाकार आकृतियों और सपाट सतह के बीच टकराव का कोई संकेत नहीं है। आकृतियाँ एक मुक्त और प्रवाहमय रेखीय गति में एक–दूसरे में विलीन और अभिसरित होती हैं, और किसी भी कोण से देखने पर यह रचना घुमावदार वक्रों से बनी प्रतीत होती है जो आकृतियों और द्रव्यमानों को उभारती है। जीवंत शरीर के चित्रण की संवेदनशीलता में, बालों, वस्त्रों और आभूषणों के उपचार में, और अंत में इसकी सुंदर मुद्रा में, हमें यहां एक स्त्री आकृति मिलती है, जो अपने विचार और विषयवस्तु में शहरी, परिष्कृत और शास्त्रीय है।[6]

परखम यक्ष की अत्यंत चपटी आकृति, जिसमें दो सतहों – आगे और पीछे – के बीच आयतनों का निरर्थक रूप से अध्यारोपित होना, ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के भरहुत तोरणों पर बनी नक्काशी से मिलती–जुलती है, और संभवतः उससे भी अधिक आदिम है। अन्य आकृतियाँ भी इससे मिलती–जुलती हैं, यद्यपि धीरे–धीरे उन पर समकालीन कला आंदोलनों की प्रवृत्तियों और शैलियों का प्रभाव दिखने लगता है, जैसा कि मध्य भारतीय शैली की नक्काशी रचनाओं में देखा जा सकता है। पटना से प्राप्त विशाल यक्ष प्रतिमाएँ, जिनमें पृथ्वी से जुड़े भार का सलीके से चित्रण किया गया है, लेकिन चेहरे की गोलाई अधिक है और रेखाओं का कठोर चित्रण कम है, सांची के तोरण मेहराबों पर सुशोभित यक्ष प्रतिमाओं से काफी हद तक मिलती–जुलती हैं, जो ईसा पूर्व पहली शताब्दी की हैं। इन विशाल प्रतिमाओं के चित्रण में, जो निस्संदेह भार और आयतन की प्राचीन मूर्तिकला शैली का प्रतिनिधित्व करती हैं, द्वि–आयामी चित्रण का त्रि–आयामी गहराई तक विस्तार देखा जा सकता है, जैसा कि उस काल की नक्काशी रचनाओं में स्पष्ट है। प्राचीन स्वदेशी मूर्तिकला शैली तरल और संवेदनशील रेखाओं की शास्त्रीय शैली से प्रेरित प्रतीत होती है और दीदारगंज यक्षिणी में हमें पुरानी और नई, दोनों शैलियों का सफल एकीकरण देखने को मिलता है। अपने पूर्णतः गोलाकार रूप और प्रवाहमय रेखाओं के साथ, अंगों की जीवंत और संवेदनशील बनावट तथा कोमल, गर्म मांस के लगभग कामुक स्पर्श के साथ, यह आकृति मथुरा के चौखटों पर बनी सुंदर यक्षिणी आकृतियों से काफी मिलती–जुलती है और निश्चित रूप से काल के लिहाज से उनसे अधिक निकट है। दो सपाट सतहों, आगे और पीछे, के बीच सघन रूप से जुड़े हुए मांस के स्थिर भार से, यह आकृति त्रि–आयामी विस्तार में मुक्त हो गई है, और यद्यपि आकार में भारी है, फिर भी संपूर्ण रचना में एक गतिशील हलचल व्याप्त है।[7]

भरहुत के प्रवेश द्वार के स्तंभों पर यक्ष, यक्षिणी और अन्य अर्ध–दिव्य प्राणियों के चित्र हैं, जबकि रेलिंग पर जातक कथाओं और बुद्ध के जीवन के दृश्यों को दर्शाया गया है। तोरण स्तंभों पर बनी यक्षों और यक्षिणियों की विशाल आकृतियाँ दो प्रकार की गढ़ी हुई आकृतियों को प्रकट करती हैं, जो स्पष्ट रूप से एक दूसरे से अलग–थलग प्रतीत होती हैं। सांची के स्तूप संख्या की जमीनी रेलिंग की नीची और सपाट नक्काशी से लेकर भरहुत में दोनों समूहों की विशाल यक्ष और यक्षिणी मूर्तियों तक, इस प्रयास को लगभग निर्बाध क्रम में देखा जा सकता है। यह एक सचेत और प्रगतिशील कला आंदोलन है, जो तकनीक और भावना दोनों में स्वदेशी है, जिसका मूल विचार मानव रूप को वनस्पति की तरह ही प्रवाहमय गति प्रदान करना है।[8]

यक्षों और यक्षीणियों को दर्शाने वाली कुछ विशाल, पूर्णतः गोलाकार मूर्तियाँ भी मौर्य काल की मानी जाती हैं, क्योंकि उनकी सतह पर एक चिकनी पॉलिश पाई जाती है जो शिलालेख स्तंभों पर पाई जाने वाली पॉलिश के समान है। दोनों समूह एक–दूसरे से स्पष्ट रूप से अलग हैं और विद्वान इस अंतर को समझाने का प्रयास करते हैं – एक को सिंधु अवशेषों से जुड़ी प्राचीन स्वदेशी परंपरा के रूप में और दूसरे को दरबार से प्रेरित अधिक परिष्कृत और मिश्रित परंपरा के रूप में। यह व्याख्या, विशेष रूप से यक्ष और यक्षीणी समूह के संदर्भ में, काफी कमजोर प्रतीत होती है। इसके अलावा, यक्ष और यक्षीणी आकृतियों में भी तकनीक, शैली और सौंदर्यबोध के संदर्भ में व्यापक भिन्नताएँ पाई जाती हैं। इन स्पष्ट भिन्नताओं को देखते हुए, जिन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता, इन सभी को एक ही शैलीगत या कालानुक्रमिक चरण में, और विशेष रूप से मौर्य काल में रखना कठिन है।[9]

कुमारस्वामी ने काफी प्रभावशाली ढंग से यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि भक्ति की धारा जिससे आज तमाम भारतीय धार्मिक संप्रदाय जाने जाते हैं, इस धारा का स्वाभाविक स्रोत वही यक्ष, यक्षी, नाग, नागी और मातृदेवियों की भक्तिपूर्ण उपासना रही है। भारतीय जनमत में सदियों से चली आ रही है। उन्होंने यह भी तर्क दिया कि यक्ष और यक्षी की उपासना में प्रारंभ से ही मंदिर पूजा और उपासना पद्धति का विकास लौकिक स्तर पर हो चुका था। यक्षों की पूजा प्रजनन क्षमता, वृद्धि, वृक्ष, वन, जल और एकांत से जुड़ी रही है। साहित्यिक और प्रतिमाशास्त्रीय प्रमाण यह विस्तार से दिखाते हैं कि किस प्रकार यक्ष की एक मंगलकारी और उदार छवि धीरे–धीरे विकृत और विध्वंसकारी दानवीय शक्ति के रूप में रूपांतरित होने लगी थी। समृद्धि

के स्थान पर ये प्रजनन शक्ति के प्रतीक मात्र बन गए। यक्षी या यक्षिणी यक्ष के साथ दंपति के रूप में पूजित होने वाली देवियां थी मूल रूप से ये भी मंगलकारी उपास्य प्रतीक थी जो पुनः प्रजनन से जुड़ी मान्यताओं के लिए आराध्य थी। संपूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में अनेक धार्मिक प्रतिष्ठानों में कामुकता से ओत–प्रोत एक नारी प्रतिमा वृक्ष की डाल के साथ लिपटी हुई दिखलाई पड़ती है। दरअसल ये यक्षी की प्रतिमाएं ही है जिन्हें सामान्य रूप से लोग शाल भंजिका की संज्ञा देते हैं। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन ग्रंथों में यक्ष और यक्षी दानवी और भयाक्रांत करने वाले चरित्रों के रूप में दिखलाए गए हैं। प्रभुत्वशाली धार्मिक परंपराओं में इनको समाविष्ट कर लिया गया और इनका आस्तित्व हाशिए पर आ गया, किंतु इनकी सभी धर्मों में महत्त्वपूर्ण उपस्थिति यह स्पष्ट रूप से संकेत देती है कि मूर्ति प्रथा और सार्वजनिक पूजा प्रणाली के विकसित रूप में इनका महत्त्वपूर्ण अस्तित्व रहा होगा।[10]

वास्तव में यह पता लगाना काफी कठिन है कि यक्ष और यक्षियों की उपासना कब से की जा रही है किंतु फिर भी ल. 300 ई.पू.–200 ई. के बीच के काल में ये धार्मिक पर्यावरण के बहुत जीवंत उपासतत्व बने रहे इसमें कोई संदेह नहीं है। ऐसा माना जाने लगा कि इनकी उपासना करने वाले संप्रदाय अधिकांशतः ग्रामीण परिवेश से तालुक रखते है लेकिन यर्थाथ कुछ और ही है। यदि हम मथुरा और कई अन्य धार्मिक केन्द्रों से प्राप्त हुए यक्ष और यक्षियों की भव्य प्रतिमाओं का अध्ययन करे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इनका निर्माण नगरीय समुदायों के लिए नगरीय केन्द्रों में बड़ी संख्या में हो रहा था। इनसे लंबे समय से चली आ रही मूर्ति पूजा और सार्वजनिक उपासना पद्धति तथा मंदिरों के प्रयोग का भी साक्ष्य जुड़ा हुआ है। मध्यप्रदेश के बेसनगर और पवैया जैसे स्थानों में यक्षों की प्रतिमाएं प्राप्त हुई है। इनके बाये हाथ में एक मंजूषा देखी जा सकती है, जिससे पता चलता है कि ये समृद्धि तथा संपत्ति से जुड़े हुए देवता थे। मथुरा के निकट परखम से प्राप्त विशालकाय मणीभद्र यक्ष यात्रियों और व्यवसायों के कुल देवता के रूप में पूजित हो रहे थे, ऐसा साहित्यक और अभिलेखीय प्रमाण उपलब्ध है। विशेष रूप से मणिभद्र की उपासना महत्त्वपूर्ण धार्मिक केद्रों में की जा रही थी।[11]

आज भी संपूर्ण भारतवर्ष में जनसामान्य के स्तर पर प्रजनन और शिशु तथा कई प्रकार की बीमारियों को दूर भगाने के लिए मातृदेवियों की उपासना अत्यंत लोकप्रिय है। प्रारंभिक ऐतिहासिक काल में यक्षियों की पूजा इसी निमित्त की जा रही थी। इस काल से उपमहाद्वीप के विभिन्न स्थानों से यक्षियों की प्रतिमाओं की विशालता को देखते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ये सार्वजनिक उपासना और सामुदायिक पूजन पद्धति से जुड़े हुए थे, किंतु घरेलू स्तर पर छोटे–छोटे पत्थर और टेराकोटा के यक्ष यक्षियों की प्रतिमाओं से यह भी स्पष्ट होता है कि इनका पूजन व्यक्तिगत स्तर पर भी किया जाता था। मथुरा क्षेत्र में यक्ष और यक्षियों की विशालकाय प्रतिमाओं का प्रायः सामान्य संवत के प्रारंभिक शताब्दी में ही लोप हो गया, पर इनकी लघु प्रतिमाएं अत्यंत लोकप्रिय बनी रही और इसलिए यह सिद्ध होता है कि घरेलू स्तर पर लंबे समय तक उनकी उपासना की जाती रही।[12]

निष्कर्ष

मौर्य एवं शुंगकालीन यक्ष और यक्षिणी प्रतिमाएँ भारतीय कला एवं संस्कृति के इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। ये प्रतिमाएँ न केवल तत्कालीन लोकधार्मिक विश्वासों की अभिव्यक्ति हैं, बल्कि भारतीय मूर्तिकला के प्रारम्भिक विकास की सशक्त साक्षी भी हैं। मौर्यकाल में इन प्रतिमाओं ने भव्यता, यथार्थवाद तथा तकनीकी उत्कृष्टता को प्रदर्शित किया, जबकि शुंगकाल में उनमें अलंकरण, प्रतीकात्मकता और कथात्मक तत्वों का विकास हुआ। इन प्रतिमाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय कला का विकास केवल राजकीय संरक्षण के अंतर्गत नहीं हुआ, बल्कि लोक–आस्थाओं और जनसांस्कृतिक परंपराओं ने भी इसमें महत्वपूर्ण योगदान दिया। अतः यक्ष–यक्षिणी प्रतिमाएँ भारतीय मूर्तिकला की आधारभूत परंपरा का प्रतिनिधित्व करती हैं और प्राचीन भारत के धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास को समझने का महत्वपूर्ण स्रोत हैं।

संदर्भ सूची

1. सरस्वती, एस. के. (1957) *ए सर्वे ऑफ इंडियन स्कल्पचर,* फर्मा के. एल. एम., कलकता, पृ. 52–53।
2. उपरोक्त।
3. गुप्ते, आर. एस. (1972) *आइकोनोग्राफी ऑफ दि हिन्दुज, बुद्धिस्ट एण्ड जैन्स,* डी. बी. तारापोरेवाला सन्स एण्ड प्रा. लि., मुम्बई, पृ. 175–176।
4. उपरोक्त।

5. अग्रवाल, वी. एस. (1964) *दि हेरिटेज ऑफ इंडियन ऑर्ट,* पब्लिकेशन डिवीजन, नई दिल्ली, पृ. 13–14।
6. उपरोक्त।
7. अग्रवाल, वी. एस.(1965) *स्टडीज इन इंडियन ऑर्ट,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 102–103।
8. उपरोक्त।
9. सरस्वती, एस. के. (1957) पूर्वोक्त, पृ. 56।
10. सिंह, उपिंदर (2017) *प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास,* पियर्सन पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृ. 463।
11. उपरोक्त।
12. उपरोक्त, पृ. 464।

****